

समाज सुधारक : कबीर

कबीर का अवतरण जिस काल खण्ड में हुआ, उस समय समाज विभिन्न प्रकार की परेशानियों से गुजर रहा था। एक तो इस्लाम के आगमन के पूर्व ही भारतीय सामंतवादी ढाँचा सामाजिक रुढ़ियों के चलते वेगहीन हो चला था। उसकी शोषणवादी प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी दूसरी और इस्लाम के आगमन ने इस सामाजिक जटिलता को और भी अधिक जटिल बना दिया।

यद्यपि प्रतिक्रियात्मक तौर पर समाज की जड़ता में तूफानी विक्षोभ उमड़ा, जिसने समूचे समाज को आत्मनिरीक्षण का अवसर प्रदान किया। लेकिन समाज की जड़ता एवं विच्छुंखलता में किंचित कमी होने की बजाए उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। समूचे भारतीय परिवेश के धार्मिक होने के कारण शोषण का स्वरूप भी बहुत कुछ धार्मिक लबादा ही ओढ़े था। परन्तु इस समूची विच्छुंखलता का एक धनात्मक परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज का आत्म निरीक्षण दिन प्रतिदिन प्रबल हुआ और किंचित कबीर जैसे महापुरुष संक्रमण काल की इन्हीं स्थितियों के परिणाम थे।

वैसे भी यह मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ है कि जिस समाज में देहवाद को प्राथमिकता दी जाती है, उस समाज को अपने उत्कर्ष के विषय में चिन्ता करने का अवसर नहीं मिल पाता है। इस्लामी शासकों की विलासी प्रवृत्ति के कारण ऐन्द्रियवाद के प्रभुत्व ने समाज को पतनोन्मुख बना दिया। ऐसे समाज को देखकर कबीर जैसे पुरुष का हृदय रो पड़ा। वस्तुतः कबीर की सामाजिक चिन्ता उस सच्चे आध्यात्मिक व्यक्तित्व की चिन्ता थी जो मानवतावाद, सर्वात्मवाद अद्वैतवाद की दृष्टि से समाज को जानता-पहचानता है।

यह सुस्पष्ट तथ्य है कि कबीर की मूल चिन्ता आध्यात्मिक है, लेकिन अध्यात्म के क्षेत्र में उनका सजग व सचेत व्यक्तित्व प्रकाश में आता है। यह इस बात का प्रमाण है कि उनकी सामाजिक चिन्ता आध्यात्मिक चिन्ता से कम नहीं है। चूंकि कबीर का अध्यात्म आकाशीय

नहीं था जमीन के सच से जुड़ा था उनके जैसे अनत के सत्य के राही के लिए समाज भला अलग कैसे रह सकता था । इन्हीं सन्दर्भों में कबीर जैसे आध्यात्मिक व्यक्तित्व के समाजवाद में जनवाद की तलाश करना अयुक्तिगत व अप्रासंगिक नहीं होगा ।

यद्यपि कबीर की सामाजिक चिन्ता कही भी राजनीतिक परिदृश्य से सीधे नहीं टकराती है जबकि उस समय की सामाजिक विच्छृंखलता पूरी सामाजिक व्यवस्था पर हावी थी । यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है कि उनकी अध्यात्म दृष्टि में राजनीति का महत्व, समाज से बढ़कर नहीं हो सकता ।

उनकी बानियों में ऐसे स्थल देखने में आते हैं जहाँ परोक्ष रूपेण तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था पर प्रहार है । जब वे समूची सामाजिक व्यवस्था पर प्रहार करते हैं, जड़ व्यवस्था पर प्रहार करते हैं, तब यह बात सिद्ध हो जाती है कि वे सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के अतिरिक्त राजनीतिक व्यवस्था पर भी प्रहार कर रहे हैं, यथा-निम्नलिखित साखी में उनकी पीड़ा की वे गहरी रेखाएँ उभरती हैं, जो तत्कालीन व्यवस्था का मुखौटा खोलती हैं-

चलती चाकी देख के दिया कबीरा रोय ।

दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय । ।

इस साखी का केवल आध्यात्मिक अर्थ ही यथेष्ट नहीं है बल्कि सामाजिक सरोकारों से इसका संबंध है । अपनी आध्यात्मिक सोच के आलोक में कबीर समाज के लिए जो दर्शन देते हैं, उनमें भी उनका विद्रोही तेवर उभरकर सामने आता है ।

इसका कारण है यथार्थवादी सोच के धरातल पर कबीर इस बात से आश्चस्त थे कि जड़ समाज ऐसी ही वाणी से चेत सकता है जो उसे अपने गति के प्रतिकूल लगे, और ऐसी स्थिति में व्यंग्य और उपहास अनिवार्य तरीका हो जाता है । कबीर देहवादी सामाजिक व्यवस्था को ललकारते हुए, नरक की घोषणा करते हैं ।

वे कहते हैं "नारी माया है, ठगिनी है ।" ऐसे समय में वे सती नारी का आदर्श समाज के सामने रखते हैं, जब समाज नारी को भोग्या ही मानता था । अर्थवाद के खिलाफ भी कबीर विद्रोही तेवर में समाज को प्रबोध देते हैं-

मन बनिया बनिय न छोड़े, जनम-जनम का मारा बनिया
अजहूँ घूर न तोले ।”

कबीर जानते थे कि समाज के पतन की जड़ अहंकार और अहंकार की जड़ पूंजी का संचय है। ऐसी स्थिति में वह सामाजिक नश्वरता के प्रति समाज को सचेत करते हैं-

चलत का फूले फूले हो चलत का टेढ़े-देते हो

सामंतवादी व्यवस्था में कबीर बेहतर ढंग से जानते थे कि उनकी बातों से समाज का शोषक वर्ग चिढ़ रहा है। अपनी इस वेदना से परिचित कराते वह कहते हैं-

साँच कहौं तो मारन धावै,
झूठे जग पतियाना ।

कबीर समूची सामंतवादी व्यवस्था के खिलाफ थे वे पूंजीवादी व अर्थव्यवस्था की परिणति नरक बताते हैं और अपने आध्यात्मिक ढंग से समाज को सचेत करते हैं-

यह ऐसा संसार है
जैसा सेमर फूल,

यह उल्लेखनीय तथ्य है कि कबीर जैसा आध्यात्मिक व्यक्तित्व जो कि रहस्यवादी पदों को गाते नहीं थकता है, वह भाग्यवादी आधार पर कोई बात नहीं कहता बिना उसे अनुभव की कसौटी पर कसे । जनवादी व्यवस्था के अन्तर्गत विवेकवाद को महत्व दिया जाता है । यह अपेक्षा की जाती है कि समाज सारे अंधविश्वास के खिलाफ विवेक का अवलम्ब ग्रहण करे । कबीर की सामाजिक सोच में विवेकवाद स्पष्टतः परिलक्षित होता है ।

वह समूची व्यवस्था से अपना अलगाव करते हुए समाज के रुढ़िवादी वर्ग को ललकारते हुए कहते हैं-

तू कहता कागद की लेखी,
मैं कहता आंखन की देखी ।

अनुभूति की कसौटी पर ही सत्य को परखने के कारण कबीर की दृष्टि सामाजिक व्यवस्था के मूल में बहुत गहरी हो जाती है । वह व्यक्तिवादी व्यवस्था के खिलाफ है, जिसमें स्वार्थ का ही बोलबाला है । इसी स्थिति को लक्षित करते हुए कहते हैं कि चारों तरफ आग लगी हुई है, मनुष्य को चाहिए कि वह मानवतावादी चरम सत्य के मूल्यों के जल से इस आग को बुझा ले-

कबीर चित्त चमंकिया चहुँदिसि लागी आगि ।

हरि सुमिरन हाथुं घड़ा बेगे लेहु बुझाइ ।

कबीर का यह कथन है कि जब तक व्यक्तिवाद का समष्टिवाद में विलय नहीं हो जायेगा तब तक अपेक्षित समाज व्यवस्था को हम प्राप्त नहीं कर सकते ।

इसलिए वे कहते हैं-

मैमंता मन मारि रे

कबीर इस सत्य से बेहतर ढंग से परिचित थे कि समाज के पतन की जड़-वर्ग भेद एवं जाति भेद में निहित है । इस्लाम के आने के पूर्व तक सनातनी हिन्दू व्यवस्था में वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत पहले जातिभेद पनपा और फिर जातिभेद ने वर्ण भेद का रूप धारण किया फिर इस्लाम के आने के बाद सम्प्रदाय-भेद और जुड़ गया ।

अब इन तीनों भेदों के बीच समाज में सामंजस्य व संतुलन स्थापित हो तो किस तरह । एंगेल्स शोषणवाद, पूंजीवादी के मूल में, परिवार, पूंजी सम्पत्ति, को जिम्मेदार मानता था । कबीर इन्हीं तीनों को माया कहते हैं । वे माया को वैश्या, डहडही, विष की बेल, बताते हैं । शोषणवादी व्यवस्था का प्रमुख विकार बताते हैं । ये शोषक व शोषित दोनों का रक्त चूसती हैं । कबीर सभी प्रकार के भेद की जड़ ही मिटा देना चाहते हैं। जातिभेद के खिलाफ वे सनातनी हिन्दुओं को फटकारते हुए थकते नहीं-

‘एक बूद एककै मलमूतर, एक चाम एक गुदा ।

एक ज्योति थैं सब उपजना को वामन को सूदा ॥’

सम्प्रदायवाद के खिलाफ उनकी भाषा और उग्र हो जाती है-

‘अरे इन दोउन राह न पाई ।

हिन्दू अपनी करें बड़ाई गागर छुअन न देई । ।

वेश्या के पावन तर सोवै यह देखों हिन्दुआई ।

मुसलमान के पीर औलिया मुर्गा-मुर्गी खाई ॥’

इस प्रकार कबीर समाज की संवेदनात्मक रुढ़ियों पर बहुत तीखा प्रहार करते हैं, जिससे सम्बन्धित वर्ग तिलमिला-सा जाता है । हिन्दुओं और मुसलमानों के साम्प्रदायिक विद्वेष से समाज चरमराकर टूट रहा था, कबीर दोनों की पोल खोल देते हैं-

‘सन्तो राह दुनौ हम दीठा ।

हिन्दु तुर्क हठी नहिं मानै स्वाद सबनि को मीठा ॥’

ऐसा नहीं है कि कबीर सामाजिक व्यवस्था के समक्ष केवल प्रश्नचिन्ह ही लगाते हैं । प्रश्न के अलावा वे समाधान भी देते हैं । उन्होंने उस समूची भेदवादी व्यवस्था के लिए आज से 600 वर्ष पहले ही वह मानवतावादी समाधान पद्धति प्रदान की थी जिसे आज अत्यन्त प्रगतिवादी जन-व्यवस्था के रूप में लक्षित किया जाता है ।

कबीर इस टूटते हुए समाज के लिए रास्ता देते हैं । यह दूसरी बात है कि, कबीर की कसौटियाँ अत्यन्त जटिल हैं, लेकिन यदि विचार किया जाए तो लाखों प्रश्नों का एक समाधान वे राम के प्रति प्रेम से देते हैं । सामाजिक सन्दर्भ में इनके राम उदात्त मानवीय मूल्यों के समवाय है ।

इस प्रेम की कसौटी अत्यन्त खरी है । वे कहते हैं, ‘कबीर यह घर प्रेम की खाला का घर नाहि’ । प्रेम तो सूली ऊपर नट विद्या है । जो आत्म-बलिदान के लिए प्रस्तुत हो वही इस उदात्त तत्व का आनंद भी पा सकता है, किन्तु यह जनवादी व्यवस्था का प्राण तत्व है ।

कबीर इसी प्रेम के सहारे समूची जनवादी व्यवस्था के खिलाफ गतिशीलता की परिकल्पना करते हैं। वह ऐसे गुरु और ऐसे समाज अनुपालनकर्ता, दोनों को फटकारते हैं जो अधकचरे एवं अधगामी होते हैं-

‘दोनों डूबे धार में, चीड़ पाथर की नाव’

सामाजिक गतिशीलता के लिए कबीर बार-बार बताते हैं कि आत्मसंघर्ष आवश्यक है जिसके लिए पुरुषार्थ करना आवश्यक है-

‘मन रे जागत रहियो भाई,

गफिल होइ खस्तु मत खोई,

चोर मुसै धर जाई । ।’

कबीर ने स्वयं आत्मसंघर्ष किया था जिसका ज्ञान उन्हें भली-भांति था। वह इसकी चरम परिणति और उसका चरम प्रतिफल अद्वैतपरक समाज की प्रतिष्ठा में मानते हैं। अद्वैतपरक व्यवस्था में भेद नाम की चीज नहीं है, जो भेद सभी प्रकार के शोषण का जन्मदाता है। अपने अपेक्षित संसार के बारे में वे कहते हैं:

‘सखि वह धर सबसे न्यारा, जहाँ पूरन पुरुष हमारा ।’

उक्त विवेचना के सन्दर्भ से हम देख चुके हैं कि जब वे समाज के धार्मिक संगठनात्मक ढाँचे मानवीय रुढ़ि व मूर्तियों के खिलाफ अपना असंतोष जाहिर कर रहे होते हैं तो उनकी सोच अधिक मुखरित होती है, जन्म से लेकर जीवनपर्यन्त और यहाँ तक कि मृत्यु तक कबीर के अपने जीवन का क्रान्तिकारी तेवर समाज के सन्दर्भ में यथावत लागू होता है।

समाज का लेकर उनकी गहरी वेदना ही उनके विशुद्ध अध्यात्मिक दर्शन की भी प्रखर जनवादी दर्शन की प्रतिष्ठा करती है। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि कबीर के समाज दर्शन की सम्प्रेषणीयता का धरातल पूर्ण यथार्थवादी है कवि आद्योपान्त जनभाषा का प्रयोग करता है।

उनकी यह भाषिक दृष्टि उनके समाज दर्शन के सन्दर्भ में एक उपलब्धि है । उनकी भाषा में सामाजिक सरकारों से गहरा जुड़ाव लक्षित होता है और कही भी वह भावधारा में इतने नहीं वह जाते हैं कि ठोस, संवेदन धरातल से विचलित हों । उनकी संवेदना का धरातल ठोस है और सशक्त तर्क पद्धति पर आधारित है ।

इसी तर्क पद्धति के आधार पर वे अवधूत, पंडित, मुल्ला सभी को चुनौती देते हैं-

बूझहु मोर गियाना

तू पण्डित मैं काशी का जुलाहा ।

कबीर धर्म को रोटी का माध्यम नहीं बनाते हैं । ‘झीनी-झीनी रे बीनी चदरियाँ’ में जो आध्यात्मिक स्वरलहरी परिलक्षित होती है वह प्रकारान्तरेण श्रम के प्रति उनकी निष्ठा को उजागर करती है और सार्वजनिक मंत्री-मठाधीशी को चुनौती देती है ।

जो अध्यात्म ईश्वर को रोटी का माध्यम बनाकर लोगों को ठगता है वह कबीर को स्वीकार नहीं है । लोक रूपों और प्रतीकों में संवेगात्मक रूप से जो बात सम्प्रेषित करते हैं उसकी अर्थवत्ता और प्रमाणिकता ऐसा आदर्श इतिहास निर्मित करती है कि कहा जा सकता है कि सदियों बाद कबीर का समाज दर्शन आज भी प्रासंगिक है ।